संपादकीय

अक्सर सरकारें बदलने के साथ-साथ पाठ्यपुस्तकें बदलती हैं और शिक्षा के प्याले में फिर नया तूफान उठ खड़ा होता है। पाठ्यपुस्तकों का बदला जाना राजनीतिक दलों के लिए कितना महत्वपूर्ण होता है और उन्हें बदलने के परिणामस्वरूप उठने वाला विरोध कितना तीखा होता है इस बात की झलक राजस्थान के शिक्षामंत्री के निम्न दो बयानों से मिलती है-

''राजस्थान विधानसभा में राज्य के शिक्षा मंत्री वासुदेव देवनानी ने कहा कि पाठयक्रम में विशेष सुधार किया जाएगा और स्वतंत्रता सैनानियों की जीवनियों को शामिल किया जाएगा, ताकि प्रदेश में कोई कन्हैया पैदा नहीं हो।'' (एनडीटीवी, 18 मार्च, 2016)[1]

"The government and I have nothing to do with it. I am yet to see the new textbooks. The syllabus is created by autonomous body and government does not interfere in it at all." (''मेरा व सरकार का इससे कोई लेना-देना नहीं है। मैंने तो नई पाठ्यपुस्तकें अभी देखी भी नहीं हैं। स्लेबस स्वायत्त संस्था द्वारा विकसित किया जाता है तथा सरकार इसमें किसी तरह का कोई हस्तक्षेप नहीं करती है'') (इंडियन एक्सप्रेस ईपेपर, 7 मई, 2016)[2]

उक्त में से पहला वक्तव्य विधान सभा में दिया गया है और दूसरा प्रेस द्वारा राजस्थान की पाठ्यपुस्तकों में हुए बदलावों के संदर्भ में पूछे गए सवाल के जवाब में दिया गया है। पहला वक्तव्य जिस काम की घोषणा है दूसरा उससे मिले परिणाम की जिम्मेदारी से पीछा छुड़ाने की कोशिश है। सवाल यह नहीं है कि पाठ्यपुस्तकों

में बदलाव क्यों हो गया? सवाल यह है कि आखिर पाठ्यपुस्तकों में होने वाले बदलाव को किस नज़र से देखा जाए और समझा जाए?

यूं तो पाठ्यचर्या, पाठ्यपुस्तकों आदि में होने वाला बदलाव एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे एक समय अंतराल के साथ नियमित तौर पर होना होता है। चूंकि शिक्षा समवर्ती सूची में है अतः वह राज्य और केन्द्र दोनों का विषय है। इस दिशा में काम करने के लिए हमारे यहां राष्ट्रीय स्तर पर एनसीईआरटी (राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान व प्रशिक्षण परिषद्) है तो राज्यों में इसी तर्ज पर एससीईआरटी या एसआइईआरटी (राजस्थान के संदर्भ में) जैसी स्वायत्ता संस्थाएं स्थापित हैं। प्रक्रियागत स्तर पर हर पांच साल में यह बदलाव होने या बदलाव नहीं तो कम से कम मौजूद पाठ्यचर्या की, पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा किए जाने के प्रावधान हैं। इसमें यह मान्यता निहित है कि शिक्षा व शिक्षा में चलने वाली प्रक्रियाएं कोई स्थिर या जड़ चीज नहीं हैं। किन्तु समस्या यह है कि यह इतनी स्वायत्त व निरापद ढंग से चलने वाली प्रक्रिया न रहकर एक राजनीतिक प्रक्रिया में तब्दील हो जाती है। इसका ताजा उदाहरण राजस्थान की नई पाठ्यपस्तकें हैं। अभी दो साल भी नहीं हुए थे पिछली पाठ्यपुस्तकों को आए हुए कि इस साल से फिर पाठ्यपुस्तकों को बदल दिया गया है। ऐसे में पिछली पाठ्यपुस्तकों पर व्यय हुआ सार्वजनिक धन व संसाधन एक समयावधि तक उनका उपयोग किए जाने से पहले ही व्यर्थ चले गए।

एक सवाल जो मन में उठता है वह यह कि आखिर राजनीतिक दलों की पाठ्यपुस्तकों में इतनी दिलचस्पी का कारण क्या हो सकता है? इस संदर्भ में लगता है कुछ बातों पर विचार किया जाना जरूरी है। पहली, पाठ्पुस्तकों से उम्मीद क्या है? दूसरी, पाठ्यपुस्तकों का शिक्षा के उद्देश्यों के साथ किस प्रकार का रिश्ता है? तीसरी, पाठ्यपुस्तकों की हैसियत क्या है?

सबसे पहले पाठ्यपुस्तकों से उम्मीद क्या है? इस उम्मीद से ही पाठ्यपस्तकों और बच्चों का रिश्ता तय होता है। क्या हम उनसे उम्मीद करते हैं कि बच्चे उनसे सीखें? वे बच्चों को अपना ज्ञान खुद बनाने में मदद करें? या हमारी चाहना यह है कि बच्चे दी गई जानकारी या सूचना को रट लें और उसी आधार पर परीक्षा में एक सही व तय जवाब देकर पास हो जाएं? राजस्थान की यह किताबें पहली चाहत को किसी भी स्तर पर पूरी करती नजर नहीं आतीं (इस बात के ढेरों उदाहरण आगे के लेखों में मौजूद हैं)। वे दी गई जानकारी को रट लेने व उसी आधार पर एक सही व तय जवाब देने की उम्मीद से बनाई गई हैं। इस तरह की पाठ्यपुस्तकें बनाने का इतिहास हमारे यहां पुराना रहा है और इसका इससे कोई रिश्ता नहीं है कि सरकार किस दल की है। बल्कि इसका गहरा रिश्ता हमारे भीतर बैठी उस गैर-लोकतांत्रिक सोच से है जो मनुष्य के स्वायत्त होने से घबराती है। यह एक उच्च कुलीन मर्दवादी मानसिकता है जो विचार करने की, विश्लेषण करने की, राय बनाने की काबिलियत दूसरों में, खास तौर पर स्त्रियों, दलितों, आदिवासियों व बच्चों में विकसित नहीं होने देना चाहती उसका ठेकेदार खुद को समझती है। यह किताबें इस बात का नमूना हैं कि वे बच्चों के विश्लेषण कर लेने, विचार कर लेने, अपनी खुद की राय बना लेने से किस कदर घबराती हैं। इसलिए वे कहीं भी यह मौका पाठ के भीतर या उस पर बने अभ्यासों में उन्हें नहीं देना चाहतीं। एक तरह से यह किताबें बच्चों के सामने एक ऐसी बंद गलि उपस्थित करती हैं जिसमें जाने व आने का सिर्फ और सिर्फ एक ही रास्ता है, जिसे पहले से बता दिया गया है। खबरदार जो अपने लिए कोई दूसरा रास्ता ढूंढ़ा तो! इसलिए क्या समझना और कैसे समझना है यह सब यहां पहले से तय है। ये किताबें नकली गौरव की उस बीमारी से ग्रसित हैं कि सारा ज्ञान हमारे यहां पहले ही खोज लिया गया था, दुनिया में आज जो कुछ भी है वह हमसे सीखा हुआ है। यह किताबें ज्ञान को एक पवित्र चीज मानती हैं जिसे सिर्फ ग्रहण किया जा सकता है जिस पर अपनी तरफ से किसी तरह का विचार नहीं किया जा सकता। इनमें मौजूद ज्ञान उसका विश्लेषण करने, उस पर विचार करने और अपनी राय उसके बारे में जाहिर करने से बेहद घबराता है। और जब किताबें इस तरह से बनाई जाती हैं तो मूल मुद्दा बच्चों के सीखने में मददगार सामग्री बनाने से हटकर इस पर आ जाता है कि कौनसी सामग्री जोड़ी जानी है और कौनसी सामग्री हटाई

जानी है। ऐसे में किताबें बच्चों के सीखने की एक शिक्षण सामग्री के बजाए राजनीतिक आग्रहों को थोपने का साधन बन जाती हैं। और ऐसी किताबों में यह किया जाना आसान है। इसीलिए ऐसी किताबें इसका शिकार सबसे पहले होती हैं। अगर किताबों को इस चाहत के साथ बनाया जाए कि बच्चे उनसे सीख सकें, उनकी सामग्री का विश्लेषण कर सकें, उस पर विचार कर सकें, उसके बारे में अपनी कोई राय बना उसे जाहिर कर सकें। तो उन्हें राजनीतिक आग्रहों को थोपने का साधन बनाया जाना इतना आसान नहीं रह जाएगा। क्योंकि वे किसी भी विचार, किसी भी आग्रह का विश्लेषण करने, उस पर विचार करने, उसके बारे में अपनी राय बनाने व उसे जाहिर करने के लिए प्रेरित करेंगीं। फिर इससे फर्क नहीं पड़ेगा कि किसका नाम कम लिया गया, किसका नहीं लिया गया और किसको शामिल कर लिया गया। क्योंकि उनमें से कोई भी इस प्रक्रिया से बच नहीं पाएगा। ऐसी पाठ्यपुस्तकें बनाने के लिए हमें कोई पद्धति व प्रक्रिया तय करनी पड़ेगी। तब कुछ भी मनचाहा, कहीं भी डाल देना इतना आसान नहीं रह जाएगा क्योंकि तब हमें यह विचार करना होगा कि किस स्तर पर किस तरह की सामग्री बच्चों के लिए ग्राह्य हो सकती है? हमें यह भी विचार करना होगा कि उपलब्ध ज्ञान का कितना व कौनसा अंश किस स्तर पर दिया जा सकता है और उससे पहले की तैयारी क्या होनी चाहिए? क्या सीखना कोई एक रेखीय प्रक्रिया है? और किस स्तर पर सीखने की किस तरह की प्रक्रिया अपनाई जानी चाहिए?

हम बच्चों और पाठ्यपुस्तकों के बीच किस तरह का रिश्ता देख रहे हैं इसका सीधा संबंध इस बात से भी है कि हम शिक्षा के उद्देश्यों को किस तरह परिभाषित करते हैं? हमारे जैसे लोकतांत्रिक समाज में एक रास्ता यह है कि शिक्षा के उद्देश्यों को हम संविधान में दर्ज बराबरी, न्याय, स्वतंत्रता जैसे लोकतांत्रिक मूल्यों के संदर्भ में परिभाषित करें। इस रोशनी में देखें तो यह पाठ्यपुस्तकें घोर संविधान विरोधी हैं। इसे इस तरह समझा जा सकता है, किसी भी लोकतंत्र को बने रहने व आगे विकसित होते रहने के लिए स्वतंत्र चेता व विवेकशील नागरिकों की जरूरत होती है। किन्तु यह किताबें इनमें दर्ज ज्ञान पर बच्चों को सवाल उठाने, उसका विश्लेषण करके, विचार करके, अपना विवेक विकसित करने का मौका देने के बजाए उन्हें बने बनाए ज्ञान के ग्राहक के तौर पर देखती हैं और किताब में दर्ज ज्ञान की सत्ता को स्थापित करती हैं।

लोकतंत्र के लिए यह जरूरी होता है कि उसमें सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व हो किन्तु इन किताबों में हमारे देश में मौजूद विविधता की झलक नहीं के बराबर है। यह किताबें हिन्दू व्रत, त्यौहारों, मिथकों से भरी पड़ी हैं और ज्ञान की सत्ता स्थापित करती हुई उन्हें स्थापित करने की कोशिश करती हैं। उन पर किसी तरह का आलोचनात्मक चिंतन करने की जगह पाठ में और पाठ के बाद दिए गए सवालों में ना के बराबर है। इस तरह देखें तो यह किताबें सिर्फ और सिर्फ एक उच्च वर्णीय हिन्दू (वह भी मर्दवादी) विचार की बहुलता से बोझिल हैं। बच्चों, स्त्रियों, आदिवासियों, दलितों व अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व इनमें लगभग नहीं है और कहीं गलती से है भी तो वहां उसे सिर्फ उसी उच्च वर्णीय हिन्दू मानसिकता के साथ पेश किया गया है।

पाठ्यपुस्तकों की सामग्री व उन पर बने सवाल यह दर्शाते हैं कि इन्हें बनाते वक्त बच्चों की उम्र का उनके सीखने के साथ क्या रिश्ता है? भाषा का समझ के साथ क्या रिश्ता है? किसी खास विषय में ज्ञान-सृजन की प्रक्रिया क्या होती है और उसका उस विषय को सीखने के साथ किसी तरह का तालमेल होने की जरूरत होती है या नही? शिक्षा के उद्देश्यों का लोकतांत्रिक मूल्यों के साथ क्या रिश्ता है? जैसी किन्हीं बातों का खयाल नहीं रखा गया है। यह बात यह स्थापित करती है कि इन्हें बनाते वक्त पाठ्यपुस्तकें बनाने की किसी तरह की पद्धति व प्रक्रिया का पालन नहीं किया गया है। और यही वह बात है जो इनमें विषयवस्तु के स्तर पर जो मन आया डाल देना संभव बनाने के लिए जगह बनाती है। परिणामस्वरूप यह ज्ञान निर्माण में सहायक शिक्षण सामग्री बनने की बजाए अपने आग्रहों को थोपने का साधन बन जाती हैं। पाठ्यपुस्तक निमार्ण में उचित पद्धति व प्रक्रिया न अपनाना तथा उसे संस्थागत रूप न दे पाना ही वह वजह है कि पाठ्यपुस्तक निर्माण एक स्वायत्त चलने वाली प्रक्रिया के बजाए राजनैतिक आग्रहों को ढोने

के एक साधन में तब्दील हो जाता है। एनसीएफ 2005 के बनने और उसके बाद उस पर आधारित पाठ्यपुस्तकें बनने के दौरान पाठ्यपुस्तक निर्माण की पद्धति व प्रक्रिया को अपनाकर उसे संस्थागत रूप देने की कोशिश हुई थी और पहली बार हम उस रास्ते पर काफी आगे बढ़े थे किन्तु लगता है अब फिर हमने अपने लिए प्रतिगामी रास्ता चुन लिया है। और यह चुनाव अपने आप में हमारी इस मंशा पर सवाल खड़ा करता है कि हमारा लोकतंत्रिक मूल्यों व हमारे संविधान में दरअसल किसी तरह का भरोसा है! क्या हम चाहते हैं कि हमारे बच्चों में सवाल उठाने व असहमतियों के साथ रहने जैसे लोकतांत्रिक मूल्य विकसित हों? कहीं ऐसा तो नहीं कि भीतर से हम आज भी लोकतांत्रिक मूल्यों व संविधान के विरोधी हों और उनका जाप सिर्फ राजनीतिक कारणों से करते हों!

पाठ्यपुस्तक की हैसियत के बारे में जब हम विचार करने लगते हैं तो पाते हैं कि उसकी हैसियत आज भी हमारे स्कूलों में, खासकर सरकारी स्कूलों में, एक धर्मग्रन्थ से कम नहीं है और उनकी यह हैसियत अपने-आप नहीं बनी है। दूसरी किसी तरह की पाठ्यसामग्री व संदर्भ सामग्री से स्कूलों (खासकर सरकारी स्कूलों) को लगातार लम्बे समय से वंचित रखकर व शिक्षकों को केवल और केवल एक पाठ्यपुस्तक पर आश्रित रखकर इसे बाकायदा निर्मित किया गया है। आज भी ज्ञान के एक मात्र आधिकारित स्रोत के रूप में शिक्षक व बच्चे के पास वही होती है। हमने कभी अपने शिक्षकों को इतना समर्थ बनाने में निवेश नहीं किया कि वे शिक्षण में विविध संदर्भ सामग्री का उपयोग करने में समर्थ हो सकें। पाठ्यपुस्तक की इस हैसियत से हमारे राजनैतिक दल भली भांति वाकिफ हैं। यह स्थिति पाठ्यपुस्तकों का वर्चस्व कायम करती है। और इसी वजह से वह एक राजनैतिक हथियार बनने के लिए अभिशप्त हो जाती है। पाठ्यपुस्तकों की यह स्थिति पाठ्यपुस्तक निर्माण में उचित पद्धति व प्रक्रिया को ना अपनाने को उकसाती है। क्योंकि पाठ्यपुस्तकें अपने आग्रहों को लोगों के मन में बिठा कर सत्ता हासिल करने के ऐसे आसान साधन के तौर पर नज़र आने लगती हैं जिनकी पहुंच बहुत व्यापक है। यही वजह है कि पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में इससे फर्क नहीं पड़ता कि सत्ता में कौनसा दल है क्योंकि सभी दल उनका इस्तेमाल अपने आग्रह लोगों के मन में स्थापित करने वाले साधन के तौर पर कर रहे होते हैं।

अब समय आ गया है कि हम पाठ्यपुस्तक निर्माण की पद्धति व प्रक्रियाओं को संस्थागत रूप देने के लिए आवाज बुलन्द करें व एक मात्र पाठ्यपुस्तक के वर्चस्व वाली स्थिति से आगे बढ़ें। ◆

सूचनाः राजस्थान की पाठ्यपुस्तकों के विश्लेषण संबंधी अन्य लेख निम्न लिंक पर पढ़े जा सकते हैंः
https://kitabat20016.blogspot.in/?m=0

संदर्भ

1. http://khabar.ndtv.com/news/india/textbooks-will-be-changed-to-ensure-no-one-like-kanhaiya-born-rajasthan-minister-1288383

2. http://epaper.indianexpress.com/802451/Jaipur/08-May-2016#page/1/1

प्रमोद